सामवेदीय गृहय सूत्रों के विभिन्न पक्षों का समीक्षात्मक अध्ययन

चतुर्थ अध्याय

संस्कारों की समीक्षा
संस्कारों की आमीराकर

सम्पूर्ण कृप्या धातु से श्रद्ध प्रतिय करने पर संस्कार शब्द व्युत्पन्न हुआ है।
इस तरह इसका अर्थ हुआ परिपर्य अन्तर्गत ने इसका अर्थ 'नया रूप देना' किया है।
संस्कार शब्द का अधिक उपयुक्त पर्याय अंग्रेजी का 'सेक्रेमेन्ट' शब्द है, जिसका अर्थ है धार्मिक
सिद्धिविधिविधिविधान अथवा न्यू कृत्य जो आत्मानिक सीन्द्रों का बाह्य मौध्य अथवा दृष्टि प्रतीक माना
जाता है, और जिसका व्यवहार प्राचीन, प्राकृतिक, कालीन पाश्चात्य तथा रोमन धार्मिक चर्च
धार्मिक, सम्प्रदाय (कन्फ़रेंस) पूर्ववासित्त्र, भ्रम (तीलियन), अस्थित्व (एक्स्ट्रीमास्क्षन), आदेश तथा
विवाह के सात कृत्यों के लिए करते हैं। किसी वचन अथवा प्रतिमा की पुष्टि रहस्यमयपूर्ण महत्व
की वस्तु पवित्रप्रभाव तथा प्रतीक भी सेक्रेमेन्ट शब्द का अर्थ है।
चरक संहिता में गुण के
प्रतिस्थापना को ही संस्कार कहा गया है – "संस्कारों हि गुणान्तराधायामुच्यते।"
चरक संहिता में
ही संस्कार के पर्याय रूप में करना शब्द उल्लिखित है।

विभिन्न विचारों के दृष्टि में संस्कार के किसी अर्थ किये गये हैं जैसे – मीमांसक
यज्ञ के अंगभूत तत्त्वों के विविधता करण को ही संस्कार मानते हैं।
अद्वैतवेदान्त मतवत्ताओं के
लिए जीव पर शारीरिक क्रियाओं के मिश्यारोप ही संस्कार हैं।
नैयायिकों के लिए भावभित्तिक स्त्रेष्ठ
रक्षम आत्मशक्ति ही संस्कार है।
संस्कृत साहित्य में भी यह शब्द अनेकस्तर बार प्रयुक्त हुआ है।
इस शब्द का प्रयोग शिक्षा, संस्कृति, प्रशिक्षण, सौजन्य, पूर्णता, व्यक्तरण सम्बन्धी शुद्धि संस्करण,
परिष्करणः, शोभा, आभूषणः, प्रभाव, स्वरूप, स्वभाव, क्रिया छापः, स्मरण शासित पर पड़ने वाला प्रभावः, शुद्धि क्रिया, धार्मिक विधि विधानः, अभिषेक, विचार, भावना, धारणा, कार्यपरिणाम क्रिया की विशेषताः आदि अर्थों में किया गया है।

इस विशेषण से यह स्पष्ट है कि संस्कार शब्द के साथ विलक्षण अर्थों का योग हो गया है, जो इसके दीघे इतिहास क्रम में इसके साथ संयुक्त हो गये हैं। इसका अभिप्राय शुद्धि की धार्मिक क्रियाओं तथा व्यक्ति की दैविक, मानसिक और नैसर्गिक परिष्कार के लिए किये जाने वाले अनुष्ठानों से है जिनसे यह समाज का पूर्ण विकसित सदस्य हो सके। किन्तु हिन्दू संस्कारों में अनेक धार्मिक विचार, धार्मिक विधि विधान, उनके सहारे नियम तथा अनुष्ठान भी समाविष्ट हैं, जिनका उद्देश्य केवल औपचारिक दैविक संस्कार ही न होकर संस्कार में व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यवहार का परिशोधण शुद्धि और पूर्णता भी है। साधारणतः यह समझा जाता था कि सविधान संस्कारों के अनुष्ठान से संस्कृत व्यक्ति में विलक्षण तथा अवर्णनीय गुणों का प्रादूर्भाव हो जाता है। संस्कार शब्द का प्रयोग इस सामुहिक अर्थ में होता था।

हिन्दू संस्कारों के वर्णन सूक्तों से ही उपलब्ध होते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी इसके उल्लेख प्राप्त होते हैं। सर्वत्रविध विश्व वर्णन गृहसूत्रों में ही हैं। ध्रुवमूर्तियों व स्मृतियों में भी पर्याप्तरूपेण वर्णन उपलब्ध होते हैं। डॉ० राजकीयों ने इस सम्बन्ध में अपना अभिमन्त्र प्रकट करते हुए लिखा है कि — “हिन्दू संस्कारों के वर्णन वेदों के कुछ सूक्तों में करिष्ठ ब्राह्मण ग्रन्थों में गृहसूत्र व धर्म सूत्रों में तथा स्मृतियों में उपलब्ध होते हैं। वैदिक संहिता में यद्यपि कहीं भी संस्कार शब्द का प्रयोग नहीं मिलता किन्तु विभिन्न स्थलों पर उपन्यास अंत्येष्ठि आदि करिष्ठ संस्कारों के अंगों का वर्णन अवश्य प्राप्त होते हैं।” विविध गृहसूत्रों में संस्कारों की संख्या भी विविध वर्णित है।

1. ‘प्रत्येकसंस्कार इवाधिकं वभृ’ — रघुवंशम् 3/18
2. ययुतेःएकसंस्कारपात्तांखुश मुखम् — अभिज्ञानशास्त्रकितम् — 7/23
3. ‘चण्डी भागेन लगुः संस्कारो वान्ध्या भवेत्’ — हिन्दोपदेश 1/8
4. ‘संस्कारजन्मं ज्ञान स्मृति’ — तकर्षणं
5. ‘कार्य शारीर संस्कार: पावन: प्रत्य चेष च’ — मृणम् 0 — 2/26
6. ‘पंचायुक्तेऽथ गार्ग्य आर्य्याः: संस्काराः प्राक्तना इव’ — रघुवंशम् 1/20
7. हि०सं००, डॉ० राजबली प्रायदेश, पृ०सं०० १९
8. प्राचीन भारतीय कला एवं संस्कृति (प्राम्ल्य से गृह दुःख पर्वत), डॉ०राजकीयों सिंह एवं डॉ० (श्रीमती) ओऽरायदे, पृ०सं०० — २६८ — २६९

126
पार्श्वात्य सम्पर्क के अनुक्रमण करने वाले लोगों से युक्त आज के इस युग में संस्कारों का महत्व नगण्य होता चला जा रहा है। सर्वप्रथम वे परिस्थितियों जिनमें उनका प्रादुर्भाव हुआ, युगों के गर्भ में जा छिपी हैं, और उनके चारों ओर लोक प्रचलित अंधविश्वासों का जाल सा बिंचा गया है। अतः उनसे सुदूर वित्त में समस्या पर दृष्टिपाठ करने के लिए तथ्यों के गम्भीर झाँसे से संयुक्त खुलियोजित कल्पना अपेक्षित है। दूसरे जातीय भावना अतीत के देवीयमान पार्श्व की ओर ध्यान देती हैं और इस प्रकार समीक्षात्मक दृष्टि आच्छन्न हो जाती है जो किसी भी अनुसंधान कार्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु इससे भी बढ़ी कठिनाई आधुनिक मशीन की पूर्वगामी धारणाओं के कारण उत्पन्न होती है। वह साधारणतः तत्काल जानता है कि प्राचीन काल की प्रत्येक बात अंधविश्वास पूर्ण है। उससे कठोर अनुशासन को समझने के लिए धीरे नहीं है। जो प्राचीन धर्म की एक महत्वपूर्ण विषयक थी।

इन संस्कारों के प्रयोजन अत्यन्त लोकप्रिय हैं क्योंकि ये अशुभ प्रभावों का प्रतीक अभीष्ट प्रभावों का आकर्षण एवं भीतिक समृद्धिवादक होते हैं। संस्कारों द्वारा संस्कार का मार्गदर्शन होता है। "संस्कार के अनुपालन से मनुष्य का शारीरिक बीमारक और वैयक्तिक उत्कर्ष ही नहीं होता, बल्कि उसका सामाजिक व धार्मिक जीवन भी उन्नत होता है।" इस शोध प्रबंध के प्रथम अध्याय में वर्णित संस्कारों में जो विधिविधान वर्णित हैं, उनका समीक्षात्मक अध्ययन इस अध्याय में इस प्रकार किया जा सकता है –

1. हिंदू, डॉ. राजबली पाण्डेय, पृ० २० - २७
2. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, डॉ. जे०एस०मिश्र, पृ० २३२
अंगभूत अवस्थिति व शास्त्रीय साक्ष्य

प्राय: सभी कर्मकाण्डों के प्रारम्भ में स्वर्तित वाचन व शास्त्रीय साक्ष्य कार्य किये जाते हैं। ये कार्य केवल कर्मकाण्ड की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण नहीं है, बल्कि आयुष्यद शास्त्र ने इसे देखने आदर की दृष्टि से देखा है – “कृत्रिमाणस्वस्थितिस्वस्तिचारणम्” “तत: प्रवृत्ते नवमें मासि ……… स्वस्थितिायं च”।

इन कर्मों की व्याख्याकी तब और अधिक स्पष्ट होती है, जब चिकित्सा प्रकारों पर दृष्टिकोण करते हैं। आयुष्यदशास्त्र में तीन प्रकार की चिकित्साओं के वर्णन उपलब्ध होते हैं – देवविषय, युक्तियापाश्रय और सत्यविजय – “खिलाजमोघमिति देवप्राप्तियं युक्तियापाश्रयं, सत्यविजयं रेष। तत्र देवप्राप्तियं मन्त्रोषधिधिमणिमंगलेलिङ्गपहारहोम्। – निम्न प्रायिकतोरवस्थायमुक्तणां च गमनादि। युक्तियापाश्रयं पुनःतथारूप्यो द्रव्याणां योजना। देवप्राप्तियं अर्थात देवप्राप्तियं चिकित्सा मंत्र, औषधि, मणि, मंगल, बलि, उपहार, होम, निम्न प्रायिकतोरवस्थाय मुक्तणां च गमनादि। चिकित्सा को कहा जाता है। द्वितीय प्रकार की चिकित्सा युक्तियापाश्रय आहार औषधि आदि की योजना होती है। अन्तिम प्रकार की चिकित्सा सत्यविजय अपर्य वस्तुओं के सेवन न करने से है।

देवप्राप्तियं चिकित्सा से पूर्वज्ञान के कर्मों के परिणामस्वरूप उपस्थि रोगों की चिकित्सा की जाती है। ऐसा देखा जाता है कि कुछ रोगों के कारण स्पष्ट होते हैं, परन्तु कुछ रोगों के कारण स्पष्ट नहीं होते। जिन रोगों के कारण स्पष्ट रूप से प्रतीत हो रहें हों वर्तमान कालिक कर्मानुसार होते हैं लेकिन जिनके कारण स्पष्ट न हो रहें हों तो पूर्वज्ञान के कर्मों के परिणामस्वरूप होते हैं। कारण शोध हो परन्तु रोग अधिक मात्रा में हों तो यह पूर्व और वर्तमान दोनों जन्मों का परिणाम होता है।

इस वर्णन से यही तथ्य निकलता है कि स्वस्थिति व शास्त्रीय साक्ष्य कार्य चिकित्सा की कोटि में ही आते हैं जो पूर्वज्ञान के पापन क्रमों को शान्त करके व्यक्ति के लिए कल्याण का मार्ग प्रशास्त करते हैं। इनका प्रत्येक कर्मों के प्रारम्भ में किया जाना कार्यों के

1. सूरसं - संस्कार विधि विवरण के आधार पर पूरसं - 4
2. सूरसं - संस्कार विधि विवरण के आधार पर पूरसं - 4
3. सूरसंसूरसं - 11

128
विवाहः

हिन्दू संस्कारों में विवाह की महत्वपूर्ण उपादेयता है। अधिकांश गृहसुत्र विवाह से ही संस्कारों का वर्णन प्रारम्भ करते हैं। वैदिक काल में जब कि कर्मकाण्ड व संस्कारों के विधि विधान बहुत थोड़े ही अस्तित्व में आये थे, वैवधिक शैली रिवाजों का विकास हो चुका था। तथावेदः

तथा अथावेदः में उन्हें काय्यमय अभिव्यक्ति प्राप्त हुई थी। घर का मधुर तथा स्नेहमय वातावरण पत्नी के साथ विवाहित प्रेममय जीवन तथा इसके फलस्वरूप होने वाली सन्तान का पालन पोषण वैदिक आयों के अत्यन्त प्रीय थे।

आयुर्वैदिक ग्रन्थ भी विवाह का महत्त्व प्रतिपादित करते हैं। विवाह के पश्चात् पुनःप्रेमन करके व्यक्ति पितृ ऋण से मुक्त होता है। पुनः प्राप्ति के प्रसंग में चरक संहिता का अभिमत है—

"अच्छविश्वेत्वशक्याश्च निष्कलश्च यथा दुःह।
अच्छविश्वेत्वशक्याश्च निरपराप्तेऽवारः।" ॥१५॥

अर्थात् बिना पुत्र के व्यक्ति चाया रहित एक मात्र शाखा वालो, फलवित, अनिष्टवचुक्त, अकरेल खड़े वृक्ष के समान होता है। जैसे चित्र में अंकित दीपक व्यक्ति अदाता होने पर भी धातुवत् कान्तिवाला लगता है। तृण निर्मित पुरुष के समान दिखलाई देने वाला होता है।

प्रतिप्रशारित, नंगा, शून्य, एक नेत्र वाला, तथा निश्चित होता है। लेकिन सत्तानवाला व्यक्ति शीलवाल, अधिकारियों से युक्त, ज्ञानवाल, महान आत्मा वाला होता है। वह मंगल सम्पन्न, प्रसन्न, धन्य एवं वीर्यवान है, वह बहुत शाखाओं वाला कहा जाता है। ऐसे व्यक्ति प्रेम, बल, मुख, वृत्ति विस्तार, विपुलकुल, यश, लोक सुख का परिणाम एवं सन्तुष्टि के आश्रय होते हैं।

1. जैगुरूमुत्सू 20/22, दा० व ज्ञागुरूमुत्सू ४० संयो - १८, गोगुरूमुत्सू ४० संयो - २७६
2. १, १०, ८५
3. १४, १, २
4. हिजूम, डा० राजबली पाण्डेय, ४० संयो १९५
5. संस्कार विधि विनश, अत्रिदेव गुप्त ४० संयो ०९
चरक संहिता द्वारा सन्तान के महत्व को इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है और ऐसे सन्तान प्राप्ति का आधार है विवाह।

सामवेदीय गृहयुसूनों में विवाह संस्कार से पूर्व ब्रह्मचर्य पूरक विद्याध्ययन का प्रावधान है। व्यक्ति के जीवन में ब्रह्मचर्य की महत्त्व उपयोगिता है। सम्पूर्ण बाधाओं से रहित स्वास्थ्यपूर्ण जीवन के लिए ब्रह्मचर्य अत्यन्त आवश्यक है। ब्रह्मचर्य वह आधारित है, जिस पर जीवन रूपी महत्त्व धार्मिकता का प्राप्त करता है।

सामवेदीय गृहयुसूनों में विवाह प्रकरण में कन्या लक्षण लक्षण वर्णित हैं। यह लक्षण परीक्षा अत्यन्त व्यावहारिक धरातल पर आधारित है। सामवेदीय गृहयुसूनों में स्त्री लक्षण परीक्षण के समन्ध में कहा गया है कि कन्या के सभी अंग पूर्ण होने चाहिए। इसका भाव यह है कि कन्या के दौंत, ओषध, नख, कर्ण, केश तथा स्तन नष्ट न हों अथवा छोटे न हों। अतिरिक्त गुण जी भी इसी भावना से भावित होकर कहते हैं - “अविनय दत्तोष्क कर्णनख केशस्तनीम्”। आयुर्वेदीय ग्रन्थों का भी इस विषय में अपना अभिमत है, जैसे स्तनों के विषय में चरक संहिता में कहा गया है कि “नात्योष्कों नातिलम्बाननितस्वास्थ्यानितिपीयों युक्तिग्राहको सुखप्राप्ताने चेति स्तन सम्पत्।” अर्थात् स्तन अधिक ऊपर न उठे हों, न अधिक नीचे लटके हुए हों, न अत्यन्त कृष्ण और न अत्यन्त हीन हों। स्तनों के अग्रभाग का आकार ऐसा होना चाहिए, जिससे बच्चों को दुर्गृह पीने में कोई कठिनाई न हो। इन वर्णों का तात्पर्य यह है कि कन्या के सभी अंग पूर्ण होने चाहिए। यदि कन्या अपूर्ण अंगों वाली हो जिस सन्तान भी अपूर्ण अंगों वाली हो सकता है। इसकी सम्भावना इसलिए की जाती है कि संभोग की अवस्था में रज व शुक्ल दोनों में सम्पूर्ण अंगों का योग नहीं होता तो बच्चे में उसी अंग की न्यूनता हो सकती है।

1. विद्याध्ययन से पूर्व ब्रह्मचर्य का यज्ञवीत पाँच या सात वर्ष में, क्षत्रिय का ग्वारह वर्ष में तथा वैश्य का बारह वर्ष में निषिद्ध किया गया है। लै0भु0सू0 10/4
2. गो0भु0सू0 पूरोसू0 - 277
3. गो0भु0सू0 पूरोसू0 - 278
4. सं0विव0वित - अतिरिक्त गुण पूरोसू0 95
5. शास्त्रोसू0 - 8

130
सामवेदीय गृह्यसूत्रों में एक अन्य लक्षण लोमो से समर्थित है, कहा गया है कि लोम अधिक रूप में होने चाहिए। लोमो का कम या अधिक होना दोनों शारीरिक विकार के अन्तर्गत हो आते हैं। चरक संहिता में लोमो की संख्या साढ़े तीन करोड़ बतलाई गयी है। जब लोम अधिक होते हैं तो इसका मतलब है कि एक लोमकूप से कई लोम बाहर निकलते हैं, जिसका परिणाम होता है कि चेवड़ या मल पूर्णरूप से बाहर निकल नहीं पाते। यही बात कम लोमों के होने पर भी होती है। इसीलिए लोमों की उचित मात्रा का निर्देश सामवेदीय 'गृह्यसूत्रों में किया गया है।

कन्या लक्षण परिक्षण में उसकी काया का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। गोभित गृह्यसूत्र में इसका उल्लेख किया गया है। इस प्रकरण में कहा गया है कि दीर्घकाय होना अधिक चर्बी का होना चाहता है, जो प्रजनन शक्ति पर दुरा प्रभाव डाल सकता है। कृष्ण होना सर्वोत्तम का परिचायक हो सकता है। शारीरिक वृद्धि से स्वूल या कृष्ण पुरुष चरक संहिता में निन्दनीय पुरुष कहे गये हैं।

वर तथा कन्या वय में विशेष अन्तर नहीं होना चाहिए। सामवेदीय गृह्यसूत्रों में अधिक उम्र की कन्या को निषिद्ध माना गया है। अधिक उम्र ज्यों - ज्यों होती चली जाती है, त्यों - त्यों रित्रियों की प्रजनन शक्ति कम होती चली जाती है और एक शीता के पश्चात् विनष्ट हो जाती है। ऐसा उल्लेख पाया जाता है कि सामान्यतया रित्रियों की प्रजनन शक्ति अद्वितीय से तेजिस वर्ष तक पूर्ण रहती है। इसी अवस्था में उत्पन्न बच्चे अधिक शक्तिशाली होते हैं। युध की आयु षोडश वर्ष एवं पति का आयु पच्चीस वर्ष होने पर दोनों से उत्पन्न बच्चे स्वस्थ होते हैं। इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए अधिक उम्र वाली कन्या को निषिद्ध माना गया है।

ऊपर तो अधिक उम्र वाली कन्या को निषिद्ध माना गया है, लेकिन सामवेदीय गृह्यसूत्र कम उम्र वाली कन्या को भी निषिद्ध नामाते है। ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख पाया जाता है कि जब कन्या सोलह वर्ष से कम उम्र की हो और वर पच्चीस से कम उम्र वाला हो तो उन दोनों से

1. गो०स००० पृ०स०० - २७८
2. गो०स००० पृ०स०० - २७९
3. च०स०००सा००३० २१
4. जै०स००० १९/११, गो०स००० पृ०स०० - २७८
5. सं०वितीवुं - अश्वेद गुप्त, पृ०स०० - १०१
6. जै०स००० १९/१२

131
उत्पन्न सन्तान या तो गर्भाशय में ही मृत हो जाता है या रोगी और निर्विन मृत्यु होता है।

कन्या के लक्षणों को परिक्षित करते समय उसके परिवार को भी ध्यान में रखा गया है। धन के सम्बन्ध में कहा गया है कि कन्या का परिवार वर परिवार के समक्ष ही होना चाहिए।

"समान जातियाँ" 1 अत्रिदेव गुप्त जी का इस सम्बन्ध में कहना है कि अभिजन तुल्य हो चूँकि तुल्याधिकरण से तालमेल धन आदि से समक्षकता ही है। हमारी दृष्टि में यदि कन्यापति वाले धनादि से वर पक्ष के समक्ष न हों तो कन्या हमेशा मानसिक दृष्टि से दबी हो जाने एसी स्थिति में उससे उत्पन्न सन्तानों भी दबी मानसिकता वाली हो सकती हैं।

साम्वेदीय गृहसूत्रों में वधु का लक्षण वर्णित करते समय कपिलवर्ण को निषिद्ध कहा गया है, कपिलवर्ण संसार तक सृपको होता है। खेव, अस्माल, कुड़ा, जुड़वा बच्चों की उत्यादि आदि वाले कुलों में विवाह नहीं करने चाहिए। इन्हीं भावनाओं से भावनाक डॉ. राजरकृष्ण चाँदेव का कहना है कि "इक्षुद्वारा पुत्र की विवाह में ऐसी स्त्री का सदा वर्णन करना चाहिए जिसके पलक नहीं गिरते, जिसकी दृष्टि क्षीण हो चुकी हो, जिसके जडन स्थल पर धोने बाल हो, जिसके घुटने बहुत उठे हुए हो, जिसके कपोल पिचक गये हो, जो पाण्डुरोग से ग्रस्त हो, जिसकी आँखें लाल हो, जिसको हाथ पैर बहुत पतले हो, जो बहुत लम्बी या ठंडी हो, जिसकी आँखों पर भाँड़ न हो जिसके दाँत बहुत कम हो तथा जिसका मुख भवानक व अफसकर हो।" 2

साम्वेदीय गृहसूत्रों में विवाह प्रकरण में ही एक और कर्म का वर्णन है, जिसे 'जातिकर्म' कहा जाता है। इस कार्य में यदि अथवा माष को जल में पीसकर कन्या के सम्पूर्ण अंगों में लेप करके सनान कर दिया जाता है। यदि कुंज में पीसकर शरीर पर लेप करने से बहुत से चर्मशीलों से मुक्ति मिल जाती है। चरक - संहिता में यदि तथा माष के गुणों का वर्णन इसी भाव में किया गया है। 3

<table>
<thead>
<tr>
<th>सूत्र</th>
<th>संदर्भ</th>
<th>पृष्ठ</th>
</tr>
</thead>
<tbody>
<tr>
<td>1</td>
<td>सं0वित्वि - अत्रिदेव गुप्त, पृ0सं0 - 99</td>
<td></td>
</tr>
<tr>
<td>2</td>
<td>जौ0गृ0सू0 - 19/11</td>
<td></td>
</tr>
<tr>
<td>3</td>
<td>सं0वित्वि - अत्रिदेव गुप्त, पृ0सं0 - 95</td>
<td></td>
</tr>
<tr>
<td>4</td>
<td>हिसं0 - डॉ राजबलक चाँदेव, पृ0सं0 - 245 - 246</td>
<td></td>
</tr>
<tr>
<td>5</td>
<td>दा0 वंशार्गृ0सू0 पृ0सं0 - 21 तथा गो0गृ0सू0 पृ0सं0 - 283</td>
<td></td>
</tr>
<tr>
<td>6</td>
<td>च0सं0सू0ब्ला030 - 27</td>
<td></td>
</tr>
</tbody>
</table>
सामवेदीय गृहेयसूत्रों में विवाह संस्कार से चतुर्थ दिन एक कर्म करने का प्रावधान है जिसे 'चतुर्थी कर्म' कहा जाता है। इस क्रिया में घृत व जल के मिश्रण का वशू के सर्वार्थ में लेप करने का विधान है। घृत लगाने से चर्म सिन्ध हो जाता है तथा सामान्यतः यह देखा जाता है कि घृत कीटाणु नाशक होता है, अतः चमड़े पर विद्यमान छोटे—मोटे कीटाणुओं का भी इस क्रिया में नाश हो जाता है।

इन्हीं भावनाओं से भावित होकर डा० राजबलाल पाण्डेय जी ने कहा है कि "हिन्दू विवाह, जिसका अनुस्मान उपयुक्त विधि विधानों द्वारा सम्पन्न होता है, के आधुनिक अर्थ में एक सामाजिक अनुबन्ध न होकर एक धार्मिक संस्था व संस्कार है। इससे हमारा तात्पर्य यह है कि विवाह में वर और वधू, इन दो पक्षों के अतिरिक्त, तीसरा आत्मानव, आध्यात्मिक अथवा देवी तत्त्व भी विद्यमान है। दोनों पक्षों की दैहिक स्थिति सदैव परिवर्तन का विषय है, अतः यह विवाह का स्थायी आधार नहीं हो सकती। पति और पत्नी के मध्य स्थायी सम्बन्ध का अस्तित्व इस तृतीय तत्त्व पर ही निर्भर करता है। पति और पत्नी के दुसःस्त्र परस्पर एक दूसरे के प्रति ही उत्तरदायी नहीं होते, किन्तु उसके इस तृतीय तत्त्व के प्रति भी महत्ता रिच्या रखनी पड़ती है। स्त्री और पुरुष के पारस्परिक विशुद्ध सामाजिक तथा भौतिक अनुभव में यह धार्मिक या रहस्यालंक क तत्त्व है। इसके बिना दाम्पत्य जीवन का आकर्षण व स्थायित्व नष्ठ हो जाता है।"²

इस संस्कार में वर को योग्यतम मानकर उसे देवपुत्र बताकर एक योग्यतम दाम्पत्य स्वीकार किया जाता है। इस तरह दोनों का एक नयीन सम्बन्ध प्रारम्भ होता है। हमारे शास्त्रों की यह अवधारणा है कि विवाह केवल एक जन्म का सम्बन्ध नहीं हलिक जन्म जन्मान्तर का सम्बन्ध है तथा इसमें महान स्थायित्व है। विवाह के बधि में बैठकर व्यक्ति उन्नति के पथ पर अग्रसर होता है। विवाह का तात्पर्य कभी भी विषयोपायो की स्वच्छन्दता नहीं है। विवाह में ही ध्रुवभूति का विधान किया जाता है। इस प्रति में तीन दिन कार्य व लवण रहित भोजन के साथ — दोष व्रहचार्य पालन का भी विधान किया जाता है। गृहस्थ जीवन के प्रारम्भ में ही ध्रुवात्त परिचर्यं व्रहचार्य पालन संयत्तमार्ग का प्रतीक मानना चाहिए। इस अत्म संयंग से ही जीवन में अधिकाधिक सुख की प्राप्ति हो सकती है।

1. जै0णा०सू० पू०स० - 23, दा० व खाः०णा०सू० पू०स० 36, गौ0णा०सू० पू०स०-335
2. हिन्दू संस्कार - पू०स० - 286 - 287

133
गर्भधारण-

हिन्दुओं द्वारा किये जाने वाले संस्कारों में यह प्रथम संस्कार है। विवाह के पश्चात्
पुरुष द्वारा स्त्री में अपना बीर्य स्थापित करना तथा सन्तान की कामना ही इस संस्कार का मूल
है। गर्भधारण स्वस्थ्य और यौवन पत्नी के साथ ही करना चाहिए। स्त्री रूपी क्षेत्र के स्वस्थ्य रहने से
सन्तान स्वस्थ्य होगी।

गर्भ में बीर्य का स्थायित्व होने पर गर्भधारण क्रिया पूर्ण होती है। गर्भधारण संस्कार
में चार तथ्य होते हैं – त्रृतु, क्षेत्र, बीज तथा जल। त्रृतु का अर्थ समय होता है। समय का अर्थ
है— गर्भधारण का समय। यह गर्भधारण कब किया जायं इसके समय के विषय में कहा गया है कि
जब स्त्रियों में मासिक धर्म आ जाय तब इसका समय जानना चाहिए। सामान्यतया यह देखा जाता
है कि स्त्रियों जब तेरह या चौदह वर्ष की हो जाती हैं तो गर्भ दांतन करने की क्षमता उनमें आ
जाती है, और यह समय लगभग चालीस या पेटलिस वर्ष की अवस्था तक चलता है। इस सन्दर्भ
में इस तथ्य को ध्यान में रखना चाहिए कि त्रृतुकाल का प्रारंभ होना गर्भधारण के समय का ही
दौरान करता है, गर्भधारण की योग्यता का नहीं। स्त्रियों का रज लगभग सोलह से अध्यार्थ वर्ष
की अवस्था होते ही परिपक्व होता है, तब से प्रारंभ होती है उनके गर्भधारण की क्षमता। सामान्यीय
गृहपत्नियों में इसीलिए स्वस्थ्य और यौवन स्त्री का उल्लेख इसी तथ्य को ध्यान में रखकर किया
गया है।

अन्य -

यह संस्कार कब किया जाय यह एक विचारणीय प्रश्न है। इस सम्बन्ध में सामान्यीय
गृहपत्नियों में कहा गया है कि गर्भधारण का समय रक्तवाय के बन्द हो जाने पर, रक्तवाय प्रारंभ
होने के सोलह रात्रियों के अन्दर करना चाहिए। रक्तवाय में गर्भधारण अतिनिन्दित माना गया है।
ऐसी ही अवधारणा चरक – संहिता में भी है, कहा गया है कि रक्तवाय प्रारंभ होने के तीन रात्रियों
तक गर्भधारण क्रिया न करें। 2 डॉ. जयशंकर मिश्र भी इसी तथ्य को स्वीकार करते हैं। 3 प्रारंभिक

1. जै0गृ0सू0 23/18, वा0 व जै0गृ0सू0 पू0 36, जै0गृ0सू0 पू0सं0 – 362
2. सा0स्थाव0अ0 – 2
3. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास – पू0सं0 289
तीन रात्रियों में सम्मोह दारिद्र्य जनक माना जाता है। मैं मानता हूँ कि इन वचनों के पीछे यह तथ्य दृष्टिगोचर होता है कि इन समयों में जो रक्त जाँचिता होता है, इसमें रुखे हुए रज्जु, रक्त, लसीका, रैलिफिक कला तथा अन्य सूचक होते हैं। इन सबके बहिष्कार हो जाने पर गर्भाशय शुद्ध होकर गर्भधारण के योग्य हो जाता है। यदि इस रक्तरीवार की अवधि में गर्भधारण हो जाता है तो गर्भस्थ गर्भाशय में ही मृत हो जाता है या उत्पन्न होने वाला विकृत और निर्बल होता है। लेकिन सामान्यतया इस काल में गर्भ ठहरता ही नहीं। डाक्टरों की मान्यता है कि इस काल में सहवास से उपद्रव नामक रोग होने की आमतौर पर होती है। वैसे यह सामान्य सिद्ध है कि दृष्टिगोचर रक्त के सम्पर्क से खुजली, फुसिया या अन्य कई रोगों के होने की सम्भावना होती है। सामान्य तौर पर सोलह रात्रियों तक गर्भकाल मानते हैं। यदि इन चिह्नों में गर्भाशय में पुरुष बीर्य स्त्री रज के साथ नहीं मिलते हैं तो, सोलह दिनों के पश्चात गर्भाशय का मुख बन्द हो जाता है तथा स्त्री रज धीरे – धीरे सूखने लगता है। रज आठ – दस दिनों में पूर्ण रूप से सूख जाता है, तथा अंग्रेजी मासिक धर्म में रक्त के साथ बहर निकल जाता है। यह क्या प्रत्येक महीने होती रहती है। प्रत्येक मह रक्तरीवार होने के कारण स्ट्रियों में प्रमेय रोग की कमी देखी जाती है। जिन स्ट्रियों में रक्तरीवार नियत समय पर नहीं होता, उनमें जूत्र जन्म विकार भी देखने में आता है।

सामान्य गृहसूचियों की ऐसी मान्यता है कि रक्तरीवार के बन्द होने के पश्चात युग्म रात्रियों में गर्भधारण करने से पुरुष तथा अन्युग्म रात्रियों में गर्भधारण करने से पुरुष की पारति होती है। डॉ॰ राजबल याप्पेय जी का आमंत्र है कि चौथी रात्रि में धारण किया हुआ पुरुष अल्पत और धन्वीय होता है। पंचम रात्रि में धारण की हुई कन्या स्त्री सन्तति को ही उत्पन्न करती है। चौथी रात्रि का बच्चा मध्यम उत्पन्न (उद्यानीन) होता है। सत्तारात्रि की कन्या वन्या होती है। आठवीं रात्रि का लड़का सम्पत्ति का स्वामी होता है। नववीं रात्रि में गर्म से शुष्क स्त्री उत्पन्न होती है। दसवीं रात्रि का पुत्र बुद्धिमान होता है, भार्यवीं रात्रि की कन्या व्यविधारणी होती है। चौदहवीं रात्रि का पुत्र धारमिक, कृतज्ञ, संयमी और दृढ़ प्रतिभा होता है, पन्निर्विंत रात्रि की स्त्री बहुत पुत्रों की माँ और पतिवर्धन होती है।

1. चोगुसोटुस्तथोध्वि - 25
2. चोगुसोटुस्तथोध्वि मूर्षो - 352
3. चोगुसोटुस्तथोध्वि मूर्षो - 352

135
सोलहवी रात्रि का पुत्र विद्वान, श्रेष्ठ, सत्यवादी, जितेन्द्रिय और समस्त प्राणियों को शरण देने वाला होता है। हुमा और अयुग की गणना यहाँ तिथियों से विदित है।

युग्म तिथियों में आर्तव (रज) क्षीण रहता है, अयुग की गणना में पुन्त होता है। इसी कारण युग्म रात्रियों में गर्भधारण करने से पुरुष और अयुग्म रात्रियों में गर्भधारण करने से कन्या की उत्पत्ति बतलाई गई है। वैसे यह सर्वमान्य है कि शुक्र के आधिक्य से पुरुष सन्तान रज के आधिक्य से स्त्री सन्तान होती है। अत्रिदेव गुप्त ने चन्द्रमा का प्रभाव शरीर पर मानकर युग्म और अयुग्म रात्रियों में आर्तव का क्रमशः क्षीण व पुन्त होना चर्चित करते हैं। ये दृष्टि में शारीरिक प्रकृति आहार अथवा औषधि के सेवन से पुरुष में बीर्य का आधिक्य हो जाता है, इसलिए ऐसी स्थिति में अयुग्म रात्रियों में भी पुनरुत्पत्ति हो सकती है।

गर्भधारण रात्रिकाल में ही करना चाहिए, ऐसी अवधारणा सामान्यतः गृहयुगों की है। इस समबंध में दो राजवंशी पाण्ड्य का कथन है कि दिन में सम्भोग करने वाले पुरुष का प्राणवायु अधिक तीव्र गति से बिंदु से बलात्कार होते हैं, तत: रात्रि में पत्नी के पास गमन करने वाले व्यक्ति श्रेष्ठताओं से अधिक होते हैं।

विद्वानों ने इन नियमों के अपवाद भी बतलाए हैं, ये अपवाद शारीरिक मानसिक और चारित्रिक दृष्टि से हैं। वृहस्पति, दूरचरित्रा, आर्तवर्तिनी, बहुरुपा स्त्रा आदि स्त्रियों के साथ गर्भधारण न करने पर किसी भी प्रकार के दोष का अभाव बतलाया गया है।

सांस्कृतिक दृष्टि से गर्भधारण संस्कार का अथवा महत्वपूर्ण है। यहाँ हम न तो उस आदिम मनुष्य को देखते हैं जो सन्तान को देखकर आशीर्वाद करता था और उसकी प्राणियों के लिए सदा देवताओं की सहायता खोजता फिरता था और न गर्भधारण बिना सन्तान की इच्छा के ही कोई आकाशिक घटना थी। यहाँ हम उन व्यक्तियों को पाते हैं जो अपनी स्त्री के समीप सन्तान उत्पत्ति रूप एक निषिद्ध उद्देश्य को लेकर श्रेष्ठ से श्रेष्ठ सन्तान की उत्पत्ति के लिए एक

1. हिँसा - पुरुलिंग - 64-64
2. संविदोि - अत्रिदेव गुप्त - पुरुलिंग 20
3. यही।
4. गोविधुजुंडु 2/5/7
5. हिँसा - पुरुलिंग 64
पुंजबन्द -

पुरुष सत्ता की उत्पत्ति के लिए यह संस्कार किया जाता है। गर्भधारण के निश्चित हो जाने के पश्चात गर्भस्थ का इस संस्कार द्वारा अभिमुक्त किया जाता है। हमेशा से ही लोगों में पुरुष सत्ता की आभासिक थी, अतः इस संस्कार के द्वारा इसी लक्ष्य को प्राप्त करने की आशा की जाती है। "पुराना सूयते अनेन कम्यणा इति पुंजबन्द।" सामान्यतया इस संस्कार से पुरुष सत्ता होने की आशा की जाती है, लेकिन पुरुष सत्ता होने यह निर्मित रूप से नहीं कहा जा सकता। पूर्वजनम में किए गये कर्म के प्रबंध होने पर वर्तमान कृत्य नष्ट हो जाते हैं और पुंजबन्द क्रिया सफल नहीं होती है। इसके विपरीत सफल होती है।

सामान्यतया गृहीत्सुट्र इस संस्कार को गर्भ से तृतीय महीने के पश्चात करने का निर्देशन देते हैं। तीन महीने तक गर्भस्थ बच्चे का लिंग ज्ञान स्पष्ट नहीं होता। प्राचीन काल में कुछ विद्वानों ने लिंग ज्ञान के लिए कुछ आधार बताए हैं, जैसे - बाम अंग से अधिकांश कार्यों को करना, निद्रावश्यक में खाने की वस्तुओं में रसी लिंग की वस्तुओं की चाह रखना, गर्भ का बाई कोष में बढ़ना, गर्भमण्डल की गोलाकृति न होना, पुरुष का सर्वप्रथम बाँध स्तन में आना रसी सत्ता होने के संकेत हैं, लेकिन इसके विपरीत पुरुष सत्ता होने का संकेत देते हैं। गर्भस्थ शिशु यदि पुरुष है तो गर्भाकृति कम बढ़ती है, लेकिन रसी-सत्ता होने पर गर्भावस्थ ज्यादा होता है।

इस सम्बन्ध में और भी कुछ नये उल्लेख प्राप्त होते हैं। एक अंग्रेजी पत्र में एक जर्मनी के डॉक्टर ने प्रयोग किया। उसके मत में यदि गर्भस्थ पुत्र होगा तो माता के दाहिनी ओख में एक स्वर्ण रेखा का चक्र दिखाई देगा और गर्भस्थ कन्या होने पर बाई ओख में नीला चक्कर होगा। इन

1. हिंदूसं - डॉ. राजबली पाण्डे, पुस्तक 72
2. चारसंथासारम - 8
3. संविविविव -अब्जिवेक गुप्त, पुस्तक 95
4. जैविक 6/3, गोविक 2/2/17
5. इलेक्ट्रेक्स वीकली 12 जून 1950 - संविविव अब्जिवेक गुप्त, पुस्तक 55 के आधार पर

137
विद्यालय में शात प्रतिष्ठा सत्यता नहीं है। लिंग ज्ञान के लिए जो आधुनिक तरीके विकसित किये गये हैं, उन पर सरकारी प्रतिबन्ध है। यह अव्यक्त स्थिति है, इसी का लाभ उठाने के लिए पुरुष विद्यालय को करने का विधान किया गया है।

इस संस्कार के विधि विधान बड़े ही वैज्ञानिक हैं। इसी प्रकरण में वटवृक्ष शृंखला के विषय में कहा गया है कि वह उम्मीद फलों से युक्त, क्रिमि रहित व हरा भरा हो। शृंखला जब सूखा होगा तो उससे रस नहीं निकल सकेगा, इसलिए हरे भरे शृंखला का विधान किया गया है। क्रिमि होना इसलिए कहा गया है कि क्रिमि अनेक रोगों की मूल होती हैं। फल के विषय में कहा गया है कि उसे भूमि पर नहीं रखना चाहिए, क्योंकि धूल के कणों में अनेक अनेक रोगों को उत्पाद की तरीक़े निहित होते हैं। सील और लोड़े को भली भांति साफ करने के पीछे भी यहीं रहता है। वटवृक्ष के शृंखला के विषय में कहा गया है कि इसमें एक ऐसा तत्त्व पाया जाता है कि वह गर्भस्थ अव्यक्त बच्चे में सीम्या निकल करता है, आग्नेयतत्त्व का हास करता है। पुरुष सीम्या तत्त्व प्रधान होता है और स्त्रियों आग्नेयतत्त्व धरण। सीम्या का आधिक्य होने से पुरुष स्तन्त्र होती है और आग्नेयतत्त्व के आधिक्य होने से ऐसा स्तन्त्र होता है।

इस संस्कार से गर्भिणी के ऊपर भी मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है, क्योंकि उसे ऐसा आम्दान होता है उसे मनोवैज्ञानिक स्तन्त्र प्राप्त होगी। आयुर्विज्ञानी ग्रन्थों में वट वृक्ष के अतिरिक्त अनेक औषधियों को देने का विधान किया गया है। इन औषधियों में सुलभणा, सहदेव, विशवदेवी में से किसी एक औषधि को पीसकर गर्भिणी की दाहिनी नासिका में तीन चार बूंद डालने का विधान है। कौमल पत्र, नीलकमल पत्र व बरगड़ के कोपल का नस्त्र लेने का विधान है। श्वेत कटरे की जड़ को पीसकर नासिका में डालने का विधान है। शारीरिक तत्त्व नासिका को पीसकर पिण्ड बनाकर उसे पकाएं। पकाते समय निकलती हुई भाव को सूखे तथा इसे निकोड़कर इसका पानी रूह से नासिका में डालना चाहिए। सोने चौंदी या लोड़े के पुरुषकृति बनाकर, दूध, दही या पानी में डालकर पुनः प्रतिमा निकालकर पेय को पी जाय।

इस संस्कार से पुरुष स्तन्त्र होने की सम्भावना तो की गई है साथ ही साथ बट वृक्ष के रस में ऐसा तत्त्व पाया जाता है जो गर्भपात निरोधक होता है।

1. सूरसूरस्मरणम् - 2
2. संविविविव, अधितिवु शुभा, पूर्वो में 58-59

138
सहिता का आभास है कि बटबृक्ष में ऐसा तत्त्व विद्यमान है कि वह गरम के समय के सभी कष्टों को दूर करता है, जैसे - तिल्लो का आधिक्य, दाहादि का निवारण।

इस संस्कार के विषय में यह एक विचारणीय प्रश्न है कि क्या इस संस्कार को प्रत्येक गर्भकाल में किया जाय? अथवा केवल प्रथमार्ग। शौनक के अनुसार इसे प्रत्येक गर्भधारण के परस्वात करना चाहिए, क्योंकि स्पर्श और आंधिक सेवन से गर्भ में पवित्रता व शुद्धि आती है। याज्ञवल्क्य स्त्रृति की एक टीका में कहा गया है कि ये पुस्तवन तथा सीमातन्त्रयन के क्षेत्र क्षेत्र संस्कार है, अतः इनका सम्पादन एक ही बार करना चाहिए, प्रत्येक गर्भधारण में नही।

संस्कार का महत्त्व इसके प्रमुख तत्वों में था। गर्भिणी स्त्री को प्राणन्त्रिय के दाहिने रंग में बटबृक्ष का रस गर्भपात के निरोध तथा पुनर्स्थापन के जन्म के निष्यत्य के उद्देश्य से छोड़ा जाता था। नासार्यों में आंधिक का छोड़ना हिंदू समाज में प्रचलित एक सामान्य प्रथा है। तथा यह स्पष्ट है कि वह क्षेत्र जिसमें इसका विधान किया गया है, निःसंवेद जनता के आयुर्वेदीय अनुभव पर आधारित था। गर्भाशाय के स्पर्श के माध्यम से भावी माता द्वारा पूर्ण सावधानी बरतने की आवश्यकता पर बल दिया जाता था, जिससे गर्भस्थ शिशु स्वस्थ तथा सबसे हो और गर्भपात की सम्भावना न रहे।

क्षिणोन्नेत्रीयम्

सीमातन्त्रयन का शाब्दिक अर्थ है मांग को ऊपर उठाना अर्थात संवारना। "सीमातन्त्र उन्नीतेः यस्मात् कर्मणि तत् सीमातन्त्रनन्म्भिते कर्मनामध्ये्" सामाजिक गृहस्वरूपों में इस संस्कार को चौथे, छठवें या आठवें महीने में करने का विधान किया गया है। इस संस्कार के विषय में ऐसा विचार था कि जब स्त्री गर्भिणी होती है तब, उस पर अनेक विधान बाधायें आती

1. सू0स्था030 - 38
2. हिं0सं0 - डॉ0 राजबलपाण्डेय, पू0सं0 76
3. वही
4. हिं0सं0 - डॉ0 राजबलपाण्डेय, पू0सं0 76-77
5. दै0गुरू0सू0 पृ0 6-7, दै0 व दै0गुरू0सू0 पृ0 62, गो0गुरू0सू0 पू0सं0 - 379
6. हिं0सं0 - डॉ0 राजबलपाण्डेय, पू0सं0 78
7. दै0गुरू0सू0 6/20, दै0 व दै0गुरू0सू0 2/24, गो0गुरू0सू0 2/7/2
है, जो उसे दराकर गर्भ का विनाश कर देती हैं। अतः इन दुष्ट शक्तियों और बाधाओं से गर्भिणी स्त्री की रक्षा का उपाय सीमात्मक असंकर से किया गया है। आयुर्वैदिक ग्रन्थों के अनुसार गर्भस्थ बच्चे का पांडव नहीं होने में मन और छठें महीने में बुद्धि का निर्माण होता है। इस निर्माण क्रिया में सुगमता के लिए इस संस्कार को करने का प्रावधान है। इस संस्कार का जो समय निष्ठुरता किया गया है इसमें गर्भिणी प्रसन्नता और दोहाद की पूर्ति अत्यावश्यक होता है। दोहाद की पूर्ति न होने पर अनेक उपदेशों के उल्लेख आयुर्वैदिक ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। चर्चा संहिता में गर्भिणी को प्रसन्न रखने का भी सन्दर्भ देखा जा सकता है। चौथा और छठवाह महीने तक दोहाद की दृष्टि से महत्वपूर्ण है लेकिन आठवाह महीने तक कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। इस महीने में अोज कभी में के अन्दर रहता है तो कभी बच्चे के अन्दर। जब अोज बच्चे के अन्दर रहता है तो तथा यह अोज जब भी के अन्दर रहता है तो बच्चा उदास रहता है। इस संस्कार द्वारा में को प्रसन्न रख उसके अन्दर अोज की वृद्धि की जाती है।

विविध ग्रन्थों के अध्ययनों से इस संस्कार के और भी प्रयोजन दृष्टिगत होते हैं। रूढिर नाश के लिए तत्पर कठिन दुष्टराशियों पत्नी के प्रथम गर्भ को खाने के लिए आती है। पति को चाहिए कि उनके निरसन के लिए वह स्त्री का आवाहन करे, क्योंकि उनके द्वारा रक्षित स्त्री को उनके राशियों मुक्त कर देती है। ये अलक्ष्य कृपा, माता भक्ति प्रथम गर्भकार में स्त्री पर अधि कार जमा लेती है तथा उसे आशा पहुँचाती है, अतः उसके भगाने के लिए सीमात्मक नामक संस्कार का विधान किया गया है। आयुर्वैदिक ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है कि गर्भिणी की प्रसन्नता के अतिरिक्त उसे ध्यान, अत्यधिक शारीरिक श्रम, राज्याग्रस्त, दिवासित, वाहन पर चढ़ना, भय, अत्यधिक दिस्कृंडक बैठना, रंगना, रक्त बाहर निकलना तथा कुसमय में मलमूत्र का त्याग न करना आदि घम्य का भी पालन करना चाहिए।

1. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास - डॉ० जयशंकर निश, पृ००२५० - २९१
2. सूर०सूर०अ०३३
3. च०स०स०आ०स०४
4. सू०स०अ०२५
5. ह०स० - डॉ० रजबली पाण्डेय, पृ००७०
इस संस्कार में गर्भिणी के शरीर में गुणत्व का शलाकू गृह के फलों या पत्तियों को बाधने का विधान है। इस विषय में ध्यान देने योग्य बात यह है कि आयुर्वेदीय चर्चितों में क्षीरी गृहों को गर्भपात का निराधक बनाया गया है।

गर्भिणी स्त्री के स्वास्थ्य के लिए विदित नियम हिंदुओं के आयुर्वेदीय ज्ञान पर आधारित हैं। सुश्रुत में प्रायः ऐसे ही नियमों का विधान किया गया है। गर्भधारण के समय से उसे मैथुन, अतिश्रम, दिवाशयन, राजस्त्राजगरण ......... वर्जन कर देना चाहिए। ठीक जयशंकर गिरह इस संस्कार के उद्देश्य के विषय में लिखते हैं कि गर्भिणी स्त्री के सुख और सांत्वना के निमित्त यह संस्कार सम्पादित किया जाता था। उसे शारीरिक शरीर से वंचित करने और चुचिवाद का वातावरण प्रदान किया जाता था, ताकि वह शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य का लाभ कर सके।

जालकर्म -

यह बायलक्ष्य का प्रथम संस्कार है। मनु के अनुसार इस संस्कार को नाल - छेड़न से पहले ही कर देना चाहिए। जैमिनी गृहसूत्र के अधिकांश सभी सामवेदीय गृहसूत्र जालकर्म व अन्नप्राण होते हैं, जो मनुष्य विश्लेषण में उचित प्राप्त नहीं होता, क्योंकि जालकर्म के पश्चात नामकरण, निख्रमण तथा अन्नप्राण का क्रम आता है। हम अपने इस शोध - प्रबन्ध में जालकर्म व अन्नप्राण इन दोनों संस्कारों की अलग - अलग सहीकार से करेंगे।

नवजात शिशु की सर्वत्रोभावने क्षा माता - पिता का परम कर्त्तव्य होता है। यही भावना इस संस्कार के मूल में है। बालक जब जन्म लेता है तो, उस समय उसमें अन्तः तथा बाह्य अनेक धरोहर की गीतियाँ होती हैं। गर्भपानी, उबटन, बरगदादि अनेक गृहों की छालों की वंचना, बायबिंदुंग, सर्वगोदेक आदि से बच्चे की बाह्य सफाई बड़ी आसानी से हो जाती है, लेकिन अन्तः की सफाई एक समस्या थी, इस संस्कार के द्वारा अन्तः सफाई किया जाता है। यह और धान्य को जल में पीसकर छानकर बालक के मुख में डाला जाता है। यह के विषय में कहा जाता है कि यह

1. सू०2०ल०णा०स्वा०0३० - 11
2. हि००० - हृ० राजवली पाण्डेय, पृ०००० 86
3. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास - पृ०००० 291
4. मनुसूरीति - 2/29

141
कफज विकारों का विनियंत करता है। आमाशय, फेफड़े व श्वास नली में विद्यमान कफ की बाहर निकालने में यह सहायक होता है। इसी कार्य के लिए घूत व मधु का प्राणशन भी इसी संस्कार में कराया जाता है। घूत व मधु में कफ की सफाई के अतिरिक्त बुद्धि, स्मृति, प्रज्ञा, जातार्थिन, आयु, शुक्र, आदि के वर्धन के लिए, रोशनी बढ़ाने के लिए व शरीर वस्त्र, कान्ति, सुकुमार्य व उत्तम स्वार के लिए भी उत्तम पदार्थ माना जाता है।

मधु में इसके अतिरिक्त भी अनेक गुण हैं जैसे — मधु मधुर रस से युक्त, कष्टय, अनुरसवाला, रुक्ष, शीतल, अम्ल दीपक, वप्प्र, स्वर्ण और लघु है। यह शरीर को कोमल बनाता है। नेदानाशक, ह्रदय — प्रिय, दूरे हुए अंगों को जोड़ने वाला, ब्रणशोधक, ब्रणरोपक, ब्राजीकरण, चक्षुष्य व निर्मलता प्रदान करता है। प्रमेह, हिंद्रा, श्वास, कांस, अतिसार, वमन, तृण, क्रिमि व विष — नाश में भी सहायक होता है।

इस वर्णनों से यह स्पष्ट होता है कि इस संस्कार में प्रयुक्त होने वाले यह घूत मधु आदि के अनेक विष महत्त्व के हैं। इन्हीं रसकों के देखकर ही हरारे पूर्वजों ने इस संस्कार में इन वस्तुओं का उपयोग किया है। चरण संहिता भी स्पष्ट रूप से इस संस्कार में प्रयुक्त होने वाले इन वस्तुओं के उपयोग के साथ इस संस्कार के विषय में अपना अभिमत प्रकट करती है।

इस प्रकार में कहा गया है कि घूत व मधु को असमान मात्रा में मिलाना चाहिए। घूत व मधु का प्राणशन स्वर्णशलाका द्वारा कराये जाने का विधान किया गया है। स्वर्णशलाका के विषय में कहा गया है कि स्वर्णरस के प्रभाव के कारण शरीर पर रोगों, क्रिमियों व जानवरों के विष का कम प्रभाव पड़ता है। आधुनिक चिकित्सा में इसी भावना के कारण स्वर्ण को वर्कर बनाकर — मधु में मिश्रित कर बच्चों को देने का विधान है।

अन्वःप्राशन —

शिशु को अन्न खिलाना ही अन्नप्राशन कहा जाता है। सामवेदीय गृहसूत्र में "प्रदेशल्प्राशनाचि" वाक्य द्वारा छठवें महीने में अन्नप्राशन संस्कार करने का विधान किया गया है।

1. घोसोंसुरोस्थारोअि  - 27
2. सुरोस्थारोअि  - 45
3. संस्विनि  - अतिविन्दु सुर, पुरोस्त 71
4. घोसोन्नारोअि  - 8
5. गोगोरुसुरा पुरोस्त - 403
अन्नप्राशन संस्कार का महत्व यह था कि शिशु उचित समय पर अपनी माता के स्तन से पृथक कर दिये जाते थे। वे माता पिता की संबंधावतिका पर नहीं छोड़ दिये जाते थे, जो प्रायः उनकी पाठक की श्रम पर बिना ध्यान दिये अति भोजन द्वारा उनके शारीरिक विकास में बाधा पहुँचाती है। अन्नप्राशन संस्कार माता को भी यह चेतावनी देता है कि एक निश्चित समय पर उसे शिशु को दूध पिलाना बदल कर देना चाहिए। अनादी माता शिशु के प्रति स्नेह के कारण उसे एक वर्ष या उससे भी अधिक समय तक अपना स्तन पिलाती ही रहती हैं। किन्तु वह इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं देती कि इससे यह शिशु का व्याधिक नक्षत्रण न कर अपनी शक्ति का निर्मक्ष क्षय करती हैं शिशु और माता दोनों के हित के लिए इस संस्कार द्वारा सामयिक चेतावनी दे दी जाती थी।

लिखित परामर्श —

जन्म से एक निश्चित अवधि के बाद जब स्तनान को पहली बार घर से बाहर निकाला जाता था, तब वह निष्क्रमण कहा जाता था। इस संस्कार के सम्बन्ध में डॉ राजबली पाण्डेय जी का अभिमत है कि शिशु के उन्नतिशील जीवन में प्रत्येक महत्त्वपूर्ण पग और परिवर्तन माता, पिता तथा परिवार के लिए हर्ष और आनंद का अवसर था तथा वह अवसरों के तथ्यात्मक सामग्री प्रमाण

1. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास पृ 0सं0 - 295
2. 2/34
3. 1/12
4. हि0सं0 - डॉ राजबली पाण्डेय पृ0सं0 115
5. हि0सं0 - डॉ राजबली पाण्डेय पृ0सं0 118
6. गो0शू0 पृ0सं0 411, द्रातव्य आवरण0सू0 पृ0सं0 63
7. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, डॉ जयशंकर मिश्र, पृ 0 294

143
विधि – विधानों के साथ मनाया जाता था। प्रस्तुतगृह में सीमित रहने की अवधि समाप्त हो जाने पर माता उस छोटे से कमरे से बाहर आती और पुन: परिवारिक जीवन में भाग लेना प्रारम्भ कर देती थी। इसके साथ ही शिशु का संसार भी कुछ अधिक विस्तृत हो जाता था। अब वह घर के किसी भाग में ले जाया जा सकता था।

आयुर्वैदिक ग्रन्थ निक्रमण को मिन्न प्रकार से क्रिया करते हैं। शिशु को घर से निकालकर कुमारागार में ले जाने का वर्णन यहाँ प्राप्त होता है। कुमारागार का वातावरण, उसकी बनावट, बच्चों के खिलाने, उनके वर्तमान विवेक, उनकी विविध मनोनियों को धारण कराना, उनका शारीरिक और मानसिक विकास आदि अनेक कार्य आयुर्वैदिक दृष्टि में निक्रमण के अन्तर्गत हैं।

सामवैदिक गृहसूत्रों में रचने के शीतल वातावरण में मन्नोचकारण पूर्वक चन्द्रदर्शन पूर्वक बालक को बाह्य वातावरण में लाये जाने का विधान है। इसमें विविध संकटों से दूर करने की भावना परिलक्षित होती है। देवताओं की वन्दना भी आयुर्वैदिक दृष्टि में देवव्रतप्राय विचित्रता के ही अन्तर्गत है।

सारांश रूप में कहा जा सकता है कि इस संस्कार का महत्त्व शिशु की शारीरिक अवस्था को ध्यान में रखकर है। एक निर्धारित समय के पश्चात् शिशु को बाह्य वातावरण में ले जाने का प्रावधान इस संस्कार में है। धीरे – धीरे अभ्यास करने के पश्चात् शिशु की ऐसी शारीरिक क्षमता विकसित हो जाती है कि वह कभी भी चाहे दिन हो या रात वातावरण में लाया जा सकता है।

नामकरण – ²

नाम द्वारा ही प्रत्येक व्यक्ति को उद्देश्यित किया जाता है, अतः हिन्दू समाज नाम प्रदान करने को भी एक संस्कार के अन्तर्गत समाहित करता है। समाज में नाम को बड़ा महत्व प्रदान किया जाता है। भाषा एवं शुभाशुभ कथन के भी आधार नाम को ही माना जाता है। सामवैदिक गृहसूत्रों के ही समान आयुर्वैदिक शास्त्रों में नामकरण की प्रक्रिया उपलब्ध होती है।³ जैसा कि

1. जै0स्त° - पूर्ण° 110
2. जै0स्त° 8, द्रा० व खा०स० 66, जै0स्त° 417
3. चूर° - 8
प्रथम अध्याय में नामकरण प्रसंग में नामकरण के सन्दर्भ में अनेक तथ्य दर्शाये गये हैं। ये विधान किन – किन दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं विचारणीय प्रश्न है। इस प्रसंग में सप्तप्राणों का उल्लेख मिलता है, यही कुछ महत्वपूर्ण तथ्य है, अन्य विधि विधानों का महत्व तो व्यवहारिक दृष्टि में हमें प्राप्त नहीं होता केवल इतना ही कहा जा सकता है कि मनुष्य जीवन पर्यंत उस नाम से संयुक्त रहता था। यह उस आदर्श का अनवरत स्मारक था, जिसके प्रति व्यक्ति से निष्ठावान तथा चौरे बने रहने की अपेक्षा की जाती थी। इसलिए नाम को काफी सोच विचार कर रखने के निर्देश दिये गये हैं।

चूज्वकरण –

सर्वप्रथम जब शिशु के केशों का कर्तन किया जाता था, तब उसे चूज्वकरण या चौल के नाम से अभिहित किया जाता था। इस संस्कार में 'शिखा' को छोड़कर शिर के सभी बालों को काट दिया जाता था।

यदि हम चूज्वकरण की व्यवहारिकता पर ध्यान देते हैं तो यह स्पष्ट होता है कि चूज्वकरण आयुर्वेद सम्मत संस्कार है। दीर्घायु, स्वास्थ्य एवं सौन्दर्यादि के लिए इस संस्कार को सम्पादित किया जाता था। सामाजिक गृहसूत्र इस संस्कार को तृतीय वर्ष में करने का विधान करते हैं। यह समय भी आयुर्वेद सम्मत है। इसके पहले बच्चे के शिर की अस्थियों की संधियों मजबूत नहीं होतीं। शिर की अस्थियों के जुड़ने के पूर्व तथा परिवर्तन जो क्रमशः दोनों पार्श्व की अस्थियों के माथे की अस्थियों के मिलने से तथा दोनों पार्श्व अस्थियों और पीछे की अस्थियों के मिलने से निर्मित होते हैं। ये मिलन स्थान भी इस अवस्था से पूर्व पूर्ण रूप से नहीं भर पाते। इनकी स्थान के लिए ही इस अवस्था तक मुद्दन न करने की कहा गया है। यदि संस्कार को इस निर्धारित समय से पूर्व करते हैं तो मस्तुलुंग जो मर्मिक का एक अंग है, के क्षीण हो जाने की सम्भावना रहती है। इसका परिणाम होगा कि बायु कुपित होकर तालु की हड्डी को टेंडी कर देती है। तीन वर्ष में चूज्वकरण की पुष्टि सुश्रुत – संहिता में भी की गई है।

1. जै०४०४०४० ८१६, दृ० व आ०४०४०४० २३३६, ओ०४०४०४० २६९२
2. “पापोदशम्य केशावकण्मामार्जनम्।”
   हर्षलावकाण्मान्यकुस्माधवर्जनम्।”  विश्वासः २४-७५
कटे बाल को गोवर में मिलाकर जमीन में गाड़ देने का विधान है। इस सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि बाल शरीर के एक अंग हैं, बाहर फिरक हुए बालों के माध्यम से कोई भी अभिव्यक्ति कर्म किया जा सकता है, इसलिए बालों को जमीन के अन्दर गाड़ दिया जाता था।

विद्वानों की ऐसी अवधारणा है कि चूजकरण में बालक की माता को रजस्वला नहीं होना चाहिए —

विवाह विधवा नारी जड़त्व प्रत्यव्यर्थाते।

चोले चैव शिशोंगृहस्थायुरशाहतत्तैषवृत्त्यःैरते।

अर्थात् माँ यदि रजस्वला हो तो विवाह करने से नारी विधवा हो जाती है, प्रत्यव्यर्थाते में ब्रम्हचारी जड़ हो जाता है। चूजकरण में शिशु की मृत्यु हो जाती है, इसलिए रजस्वला होने पर इन तीनों कायमें छोड़ देना चाहिए।

इस संस्कार में शिखारण का भी अपना विशिष्ट स्थान है। शिखर के सम्बन्ध में सुश्रुत संहिता में कहा गया है कि — “मस्तकाभ्यन्तितरोपरिशताशिशास्मत्वीरसनिन्यातोरोमा वर्तोभीपितसत्साधरी सतो मरणम्”। अर्थात् शिर के भीतर ऊपर की ओर शिरसन्धि का सन्निपत्त है। यही रोमवर्त के अधिपति की स्थिति होती है। इस अंग पर किसी भी प्रकार का घोट लगने पर तत्काल मृत्यु हो जाती है, अत: इसी अंग की सुखता की दृष्टि से शिखर रखने की व्यवस्था दी गई है।

उपन्यास —

इसी संस्कार के पश्चात् ब्रह्मचर्य का विद्यार्थी जीवन में प्रारम्भ होता है। इसी को यज्ञोपवीत संस्कार भी कहा जाता है। ब्रह्मचारी को ग्रहण करना ही तात्पर्य है अथवा ब्रह्मचारी को उपनयन शब्द से। ब्रह्मण ग्रन्थों में भी उपनयन का यही अभिव्यक्ति है। ब्रह्मचर्यार्थी विद्यार्थी द्वारा प्रादेशिक तथा आधारी द्वारा उसकी स्थिरता ही गृहसुविद्या का अभिव्यक्ति है उपनयन शब्द से। विद्यार्थी

1. बुद्धगाम्य —हि०सं०— डॉ। राजबली पाण्डेय, पृ०सं० 124
2. शास्त्रोक्ती ६०३० ६/८३
3. लै०गृहसूत० पृ०सं० १०, डॉ। व खा०गृहसूत० पृ०सं० ७५, गौ०गृहसूत० पृ०सं० ४५३
4. माझे ११/५/३

146
जीवन व्यतीत करते समय व्याक्ति को ब्रह्मचर्य का पालन करना होता है। जीवन के प्रारंभिक काल में ब्रह्मचर्य का पालन सम्पूर्ण जीवन के लिए उपयोगी है। आयुर्वेदीय ग्रन्थों में जीवन रूपी भिन्नता की सुधारता के लिए ब्रह्मचर्य पालन को आवश्यक बताया गया है।

उपन्यास प्रकरण में ऐसा विवाद किया गया है कि ब्रह्मचारी दण्ड धारण करे। चरक संहिता में दण्ड के विषय में कहा गया है कि वह मनुष्यों को गिरने से बचाता है, लड़ाई होने पर शरीर का नष्ट करता है, शरीर का सहायक होता है। इसलिए दण्ड मनुष्य के लिए हितकर एवं भय को दूर करने वाला होता है।

उपन्यास प्रकरण में एक स्थान पर आचार्य द्वारा ब्रह्मचारी के नामिक प्रदेश को स्पर्श करने का विवाद है। इसी समय नामि को प्राणों की प्रथिभि भी कहा गया है। यह कथन आयुर्वेदीय परम्परा से भी मेल खाता है। सुशुष्क संहिता का इस प्रकरण में कथन है कि “नामिस्थाय: प्राणिनां प्राणं।” जठरार्गित के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग भी यहाँ किया गया है जैसे – अहुर, अघोरणाम् आदि। इसी प्रकरण में दिवाशिव वर्जन भी किया गया है। दिवाशिव का निषेध आयुर्वेदीय ग्रन्थ भी करते हैं। प्राण अपान, व्यान, उदान और समान नाम पंच प्राणों का भी इस प्रकरण में उल्लेख प्राप्त होता है।

उपन्यास प्रकरण में एक स्थान पर ऐसा विवाद किया गया है कि ब्रह्मचारी तीन दिन तक क्षार का लवण सहित भोजन करे। क्षार व लवण के अधिक सेवन से भिन्न प्रकार के रोगों

1. ‘आपो उपस्ताहः शरीरस्व आहारः स्वपनो ब्रह्मचर्यभिन्नित्’ – चोरसंसूरस्वयमार्य 11/35
2. गोयृशूर 2/10/10
3. सूरस्वयमार्य 5
4. जैयृशूर 11/13, गोयृशूर 2/10/24
5. शारस्वयमार्य 7/6
6. गोयृशूर 2/10/15
7. गोयृशूर 2/10/30
8. चोरसंसूरस्वयमार्य 30/21
9. गोयृशूर 2030, 20483
10. गोयृशूर 2/10/43

147
का उपमात्र आयुर्वेदाय में बतलाई गयी है। उदाहरणार्थ लवण के अधिक सेवन से पित्त का प्रकोप, उच्च रक्तचाप, पिपासा, मूर्च, शारीरिक ताप वृद्धि, त्वचा में विदार, मांसपेशियों का विकृत होना, कुछेंगे होने पर मांसों का गलना, विषबद्धन, शोथ फाड़ना, दौंतों का नष्ट होना, पुरुष शक्ति का नष्ट होना, इन्द्रियों की शक्ति कम होना, बिना समय के झुरियों का पड़ना, बालों का गिरना, रक्त पिल्ला, अम्लपिल्ला, विसर्ग, बातरक, आदि विक्रोरों की वृद्धि। ¹

इस प्रकार शार का भी अधिक सेवन हानिकारक बतलाई गया है। उदाहरणार्थ – केशों का गिरना, दृष्टि का कम होना, दृढ़ और पुंसत्वशक्ति का नष्ट होना आदि। ² इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखकर तीन दिन तक शार एवं लवण रहित भोजन करने का विधान उपन्यास प्रकरण में किया गया है। तीन दिन तक शार एवं लवण रहित भोजन का करना उसकी सीमित मात्रा को दौड़ता करता है। इन्हीं भावनाओं से भावित होकर ही आचार्य मनु इस संस्कार के विषय में कहते हैं कि इस संस्कार से मनुष्य का ऐंडिक और परलोकिक जीवन पवित्र होता है। ³ इस प्रकार उसे संस्कार की महत्वपूर्ण उपादेयता स्वयं सिद्ध है।

आरोपार्थनिय – ⁴

ब्रह्मचारी जब शिक्षा समाप्त कर अपने घर जाता था, तब इस संस्कार को किया जाता था। समावर्त्तन शब्द का अर्थ है वेदाध्ययन के अन्तर्गत गुरुकुल से घर की ओर प्रत्यावर्तन। ⁵ इस संस्कार के पहले केशान्त्र या गोदान संस्कार भी किया जाता था, लेकिन सामवेदाय गृहसूत्रों में गोदान को पंचनृत्रों के अन्तर्गत ही समाहित कर लिया गया है। यह संस्कार ब्रह्मचारी की समाप्ति व गृहस्थाश्रम में प्रवेश के लिए कड़ी का काम करता है।

1. चौंसों सूर्यो गोपाणो ३० - २६
2. चौंसों विश्वाम ३०/१
3. मनुसूत्रि - २/२६
4. जैलूसूर १७, गोरूसूर ३०, ६१/९
5. वीमासों महर ५६४, हिमंसों - डॉ. राजबल्ला पाथिक २० १८७ के आधार पर

148
इस संस्कार में स्नान करते समय जल में विविध औषधियों को मिलाने का विधान किया जाता है जैसे - कूट, जटामांसी, हल्दी, चन्दन, शिलाजीत, लालचन्दन और भद्रमुस्ता। इन औषधियों का प्रयोग स्वास्थ्य को ध्यान में रखकर किया गया है। आयुर्वेदीय ग्रन्थों में स्नान के अनेक संस्करण देखते हैं।

ब्रह्मचर्य काल में जो दाढ़ी बाल छू आदि बढ़ाये गये थे उनको इस संस्कार में कटवाने का विधान किया गया है। आयुर्वेदीय ग्रन्थों में इनके कटवाने के विषय में कहा गया है कि -

पौष्टिक ........................ सम्प्रसाधनम्।

अथात्ते शेष, शमश्रु, नखादि के काटने और उनकी सजावट करने से शरीर पुष्ट होता है। यह कामोददीपक और आयु के लिए हितकर, पवित्रता को उत्पन्न करने वाला और स्वरूप को निखारने वाला होता है।

इस संस्कार में संस्कार को विविध पुष्पमालाओं और अलंकारों से अर्लकृत करने का विधान किया गया है। यह विधान भी आयुर्वेदीय वृत्तिकोण से अपना विशिष्ट स्थान रखता है। चरक संहिता का इस सन्दर्भ में कहना है कि - वृष्ण ........................ निषेधानम्। अथात्ते शेषादि सुगन्धित द्रव्यों से युक्त चन्दन लगाने एवं सुगन्धित पुष्प मालाओं को धारण करने से शरीर में वृष्णता आती है, सुगन्धि बढ़ती है और आयु का हित होता है। सौन्दर्य वृद्धि, शरीर पुष्टि, बल वृद्धि व मन प्रसन्न रहता है। इसलिए शरीर की अशोभा भी विनष्ट होती है।

1. द्राको व खासृज्जु 2/1/6, गोवृज्जु 3/4/10
2. चारुसंसृज्जु 5
3. जैवृज्जु 17/9-10, द्राको व खासृज्जु 2/1/31, गोवृज्जु 3/4/23
4. चारुसंसृज्जु 5
5. गोवृज्जु 3/4/24
6. सृज्जु 5
इस संस्कार में छत्र और छद्दी धारण करने का भी विधान किया गया है। छद्दी धारण करने के लाभों का वर्णन तो उपनयन प्रकरण में किया जा चुका है। छत्र धारण के भी अलग लाभ है। चरक संहिता का इस सन्दर्भ में कहना है कि — ‘‘ईतिहासमेत’’ अर्थात छत्र धारण करने से भविष्य में होने वाले रोगों की शान्ति हो जाती है, बलवृद्धि व भूतप्रेतवति से रक्षा होती है। यह शरीर का आवरण करने वाला एवं कल्याणकारी होता है। इसके रहने से धूप, धूली और पानी से रक्षा होती है। छत्र धारण करने के प्रसंग में सुशृत-संहिता का कहना है कि — वर्षा ——छत्रधारणम्।

अर्थात छत्र वर्षा, धूप हिमादि का निवारक, आँख के लिए लाभप्रद, कल्याणकारी आदि होता है।

समावर्तन के व्यतीत हो जाने पर स्नातक के लिए पालनीय नियमों का विधान किया गया है।

ये आयुर्विद के ‘‘सदृशस्’’ से पूर्णतया आत ात है।

जब हम हिन्दू समाज की धारितिका का विश्लेषण करते हैं तो हमारे सामने तीन मार्ग आते हैं — कर्मकाण्डपरक, उपासनापरक तथा ज्ञानकाण्डपरक। संस्कारों का समाचार तो इन तीनों धाराओं से है, लेकिन कर्मकाण्ड से विशेष। अगर हम गहनता से विचार करें तो कर्मकाण्ड, उपासना व ज्ञानकाण्ड का ऊत्स है। कर्मकाण्ड के माध्यम से व्यक्ति के विकास की शुरुआत होती है, जिससे सम्पूर्ण क्रियाओं निर्बंध रूप से चलती है।

इन विश्लेषणों से यह स्वयंसेव स्पष्ट होता है कि संस्कारों ने मानव जीवन को परिपूर्ण किया है। व्यक्ति के अध्यात्मिक और भौतिक मात्राओं को समाप्त कर जीवन को सरलगति प्रदान करना ही संस्कारों का प्रमुख उद्देश्य है। गर्भधारण, पुंजवन, व उयमतन्त्रिण संस्कार यौन विज्ञान से सम्बन्धित है। ये प्रजनन शास्त्र के ज्ञान से ही युक्त है। उपनयन, विवाह व समावर्तनादि शैक्षिक व सामाजिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। इस प्रकार से संस्कार वैज्ञानिकता से परिपूर्ण हैं। संस्कारों के ही द्वारा लोगों के जीवन में स्थायित्व आ सकता है, इस तरह के व्यक्ति के जीवन के शास्त्र सत्य हैं।

1. सूँद्रो - 3/1/27
2. सूँद्रा सत्या - 5
3. चित्रा सत्या - 24
4. जैसूँद्रो - 18/4, द्राव व खानुमुद्रो - 3/1/31-41, सूँद्रो 3/5
5. चौंद्रो - 8